अवमानना का आशय

नागरिकों को किसी भी न्यायाधीश की आलोचना करने का अधिकार है, बशर्ते यह आलोचना न्यायिक प्रशासन और उसके कामकाज को बाधित करने वाली न हो।

दृष्टिकोण : मार्कंडेय काटजू

06 March 2007

अदालत की अवमानना के विषय पर अक्सर बहस और टिप्पणियां की जाती हैं। कुछ लोग इस संबंध में कानून में सुधार की बात करते हैं तो कुछ अदालत के अवमानना संबंधी अधिकारों को खत्म करने की बात कहते हैं। लेकिन हमें यह समझना चाहिए कि लोकतंत्र में नागरिक ही सर्वोपरि हैं। सभी प्राधिकारी, चाहे वह न्यायाधीश हों, सांसदविधायक हों या नौकरशाह हों, जनता के सेवक हैं।

संविधान के प्रस्तावना में ही भारत के गणराज्य होने व इसके लोकतांत्रिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए साफ किया गया है कि हर शक्ति का स्रोत जनता ही है। यदि हम संप्रभुता के सिद्धांत को ध्यान में रखें तो भी पाएंगे कि भारत के लोग ही उसके असली मालिक हैं और देश के सभी प्राधिकरण जिनमें अदालतें भी शामिल हैं, उनकी चाकर हैं। जाहिर है कि मालिक को चाकर की निंदा करने का भी उस स्थिति में हक होता है जबकि वह अपने कर्तव्य का ठीक से निर्वहन न करे या व्यवहार ठीक न रखे।

इसी तर्ज पर लोगों को न्यायाधीशों की आलोचना का हक भी स्वाभाविक रूप से मिला है। तब यह क्यों पूछा जाता है कि क्या न्यायालय की अवमानना का कोई कानून होना चाहिए जो न्यायाधीशों की आलोचना करने या दूसरी ऐसी चीजें करने जिन्हें कंटेम्प्ट ऑफ कोर्ट की श्रेणी में रखा जा सके, से किसी हद तक रोक सके?

संविधान का अनुच्छेद 19 (1) (ए) नागरिकों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति की आजादी देता है किंतु अनुच्छेद 129 व 215 उच्च न्यायिक स्तर को अदालत की अवमानना संबंधी अधिकार भी प्रदान करता है। इस तरह यह शक्ति अनुच्छेद 19 (1) (ए) के तहत दी गई आजादी पर बंधन लगा देती है। आखिर दोनों प्रावधानों को एक साथ कैसे रखा जाए? मेरे मत से जब देश में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को मान्य कर लिया गया जिसमें लोक ही सर्वोपरि होता है तो ऐसे मामलों के निस्तारण में अनुच्छेद 19 (1) (ए) के तहत दी गई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ही प्राथमिक माना जाए। दूसरे शब्दों में लोग आजाद हैं और उन्हें किसी न्यायाधीश की आलोचना करने का हक है लेकिन उन्हें ऐसा करते हुए उस हद तक नहीं जाना चाहिए, जिससे अदालती कामकाज असंभव या बेहद दुष्कर हो जाए।

कोई काम न्यायालय की अवमानना का कारण है या नहीं, यह तय करने का आधार क्या होगा? मेरे विचार से यही देखा जाना चाहिए कि क्या इससे न्यायाधीशों का काम असंभव या अतिदुष्कर हो गया है? यदि ऐसा नहीं है तो न्यायालय की अवमानना का कोई सबब नहीं बनता, चाहे जितनी ही तीखी आलोचना की जा रही हो।

हमारे ज्यादातर अवमानना कानून ब्रिटिश शासन की देन हैं लेकिन उस शासनकाल में भारत स्वतंत्र और लोकतांत्रिक नहीं था व लोकसत्ता ही सर्वोपरि नहीं थी। उस समय ऐसा कोई संविधान भी नहीं था जिसमें अनुच्छेद 19 (1) (ए) जैसा प्रावधान हो। ऐसे में उस समय का कानून लागू कैसे हो सकता है? तीन हाईकोर्टों में न्यायाधीश रहते हुए मैं अक्सर वकीलों से कहा करता था कि वे मेरी जितनी चाहे आलोचना कर सकते हैं। यदि वह सही होगी तो मैं स्वीकार कर लूंगा, नहीं तो मैं उसकी अनदेखी कर दूंगा। अवमानना कानून ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसका उपयोग पात्र पर ही किया जाना चाहिए। देश में न्याय जगत की जानीमानी हस्ती फाली एस नरीमन ने एक बार भारतीय अवमानना नियम की अनिश्चितता की तीखी आलोचना की थी, जो एकदम सही थी।

पीएन दत्ता विरुद्ध पी शिवशंकर मामले (1988) में केंद्रीय मंत्री पी शिवशंकर व केरल के तत्कालीन मुख्यमंत्री नंबूदरीपाद ने एक जैसे वक्तव्य दिए थे, लेकिन नंबूदरीपाद को अवमानना मामले में दोषी ठहराया गया जबकि पी शिवशंकर को नहीं। क्या यह कानून की अनिश्चितता नहीं थी? अवमानना मामले की अनिश्चितता दो कारणों से हैएक, न्यायालय की अवमानना अधिनियम 1952 में अवमानना की कोई परिभाषा नहीं दी गई है। दूसरे, 1971 के अधिनियम में इसकी परिभाषा शामिल कर भी ली गई, तब भी न्यायालय को लज्जित करने, पूर्वाग्रहों आदि को परिभाषित नहीं किया गया।

अवमानना की शक्ति के बारे में इंग्लैंड में सबसे पहले विल्माट जे ने 1765 में विचार व्यक्त किए थे। उनका मानना था कि यह शक्ति न्यायालयों की सत्ता को प्रतिष्ठापित करती है। इस तरह यह शक्ति न्यायालय की गरिमा व अधिकारों को बनाए रखने के लिए जरूरी है। लेकिन यह गरिमा और प्राधिकार कहां से आता है? इंग्लैंड में जहां राजा इसका मूल स्रोत था, न्यायिक कार्य एक संप्रभु कार्यकलाप है। चूंकि राजा के पास राजकाज के दूसरे भी काम होते थे इसलिए उसने न्यायिक कार्यों के लिए अपने प्रतिनिधियों को अधिकृत करने की परंपरा शुरू कर दी। इन प्रतिनिधियों को ही न्यायाधीश कहा जाने लगा।

राजशाही में चूंकि न्यायाधीश को वास्तव में राजा के अधिकारों व कार्यों को अंजाम देना पड़ता था इसलिए इस बात की जरूरत पड़ी कि उसकी मानप्रतिष्ठा भी राजा की तरह हो, ताकि उसकी आज्ञा का पालन हो सके। लेकिन लोकतंत्र में भूमिका बिलकुल बदल गई है। यहां राजा नहीं अपितु प्रजा सर्वोच्च है। यहां न्यायाधीश को अधिकार राजा से नहीं अपितु प्रजा के द्वारा मिले हुए हैं। इसलिए प्रजातंत्र में न्यायाधीश को राजशाही की तरह मानप्रतिष्ठा और प्रभुता को प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उसकी शक्ति जनता के विश्वास से आती है। और यह न्यायाधीश की निष्पक्षता, पारदर्शिता, आचरण और सादगी पर निर्भर करती है।

इंग्लैंड में लार्ड सालमन ने न्यायालय की अवमानना पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए एजी बनाम बीबीबी (1981) के प्रकरण में कहा कि इसका उद्देश्य न्यायालय की गरिमा की रक्षा करना नहीं अपितु न्यायिक प्रशासन को सुनिश्चित करना है। किसी भी न्यायाधीश की प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा कवच और अस्त्र उसकी निष्पक्षता, निष्ठा और सीखने की प्रवृत्ति है। एक सच्चे न्यायाधीश को उसके न्यायिक जीवनकाल में शायद ही कभी अवमानना के अधिकार का प्रयोग करने की जरूरत पड़ती है। यह भी सही है कि कभीकभी एक ईमानदार न्यायाधीश की भी बिना किसी तार्किकता के आलोचना होती है। लेकिन ऐसी स्थिति में सैकड़ों लोग न्यायाधीश के पक्ष में खड़े हो जाते हैं और आलोचना करने वाले को जवाब देते हैं। इसलिए किसी भी गैरवाजिब आलोचना से डरने या विचलित होने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि यदि हमने प्रजातंत्र का रास्ता चुना है तो ऐसी स्थितियां अवश्यंभावी

हैं।